23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 327

यहाँ से मीडिया को देखो!

न्यूज़-रूम की आत्मीय आलोचना

विपुल मुद्गल

अनुवाद : चंदन श्रीवास्तव

किसी अख़बार या टीवी चैनल का न्यूज़-रूम मीडियारूपी सांस्कृतिक कारख़ाने का इंजन-रूम है। मगर क्या न्यूज़-रूम का आकस्मिक समाजशास्त्र और कार्य-शैली लोकतंत्र के साथ मीडिया के रिश्तों पर प्रकाश डाल सकती है? क्या न्यूज़-रूम के दस्तूरी कौशल व इसकी सामान्य कार्य-शैली के अध्ययन से इन बातों का कुछ सुराग़ लग सकता है कि मीडिया किन विषयों को क्यों प्राथमिकता देता है और किन विषयों की क़ीमत पर। मसलन ग़रीबी, कुपोषण, भेदभाव, असमानता और कृषि-संकट जैसे विषयों से उपजने वाले समाचारों को इतनी कम जगह क्यों मिलती है? यह आत्मीय आलोचना एक भागीदार की है जो न्यूज़-रूम को

> पूरे न्यूज़-रूम में आपको अक्सर यह आवाज़ गूँजती सुनाई देगी कि ग़रीबी के मुद्दे पर मुझे फ़ौरन एक विशेषज्ञ की दरकार है या अगले पाँच मिनट में पता करो कि विपक्ष का इस मुद्दे पर क्या कहना है? अगर न्यूज़-रूम किसी टीवी चैनल का है तो फिर तात्कालिकता सारी चीज़ों पर हावी हो जाती है। ... यह मीडिया उद्योग के सांस्कृतिक कारख़ाने का वह तल्ला है जहाँ विकासपरक सरोकारों की भेंट बाज़ार से होती है, रोज़ाना और तल्ख़ीवाले अंदाज़ में।

वह जगह मानता है जहाँ मीडिया के माध्यम से रची जा रही चीज़ों के विहंगम और सूक्ष्म परिप्रेक्ष्यों का संगम होता है। यहीं से न्यूज़-स्टोरीज़ या ख़बरी कहानियों का कच्चा माल कन्वेयर बेल्ट से निकलता है और सांस्कृतिक कामगारों (कल्चरल वर्कमैन) के हाथों विनिर्माण, कतर-ब्योंत और साज-सज्जा के पायदान पार करके अपने लिए नियत माक़ूल पृष्ठ पर या टीवी न्यूज़ के स्लॉट में बैठ जाता है। यहाँ प्रकाशन के लिहाज़ से कथाओं की छँटनी होती है और उनमें विनिर्मित मोल (वेल्यू एडिशन) अलग से जोड़े जाते हैं। न्यूज़-रूम वह आख़िरी मुक़ाम है जहाँ पर सम्पादकीय नीति थोक के भाव अमल में लाई जाती है।

पूरे न्यूज़-रूम में आपको अक्सर यह आवाज़ गूँजती सुनाई देगी कि ग़रीबी के मुद्दे पर मुझे फ़ौरन एक विशेषज्ञ की दरकार है या अगले पाँच मिनट में पता करो कि विपक्ष का इस मुद्दे पर क्या कहना है? अगर न्यूज़-रूम किसी टीवी चैनल का है तो फिर तात्कालिकता सारी चीज़ों पर हावी हो जाती है। चाहे मामले की सच्चाई जो भी हो, चुस्त और चटपटे बाइट्स आनन-फ़ानन में उठा लिए जाते हैं जबकि गुरु-गम्भीर वचनों को कथावाचन में विघ्न मान कर ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता है। यह मीडिया उद्योग के सांस्कृतिक कारख़ाने का वह तल्ला है जहाँ विकासपरक सरोकारों की भेंट बाज़ार से होती है, रोज़ाना और तल्ख़ीवाले अंदाज़ में।

न्यूज़-रूम काफ़ी फ़ुर्ती में रहता है, उसे सब-कुछ अभी और यहीं चाहिए। वहाँ उद्धरण, तस्वीर, बतौर पृष्ठभूमि इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री, जैसे चार्ट, ग्राफ़िक्स, नक़्शे, फ़ाइल-फ़ुटेज और कथा का प्रभाव-पक्ष बढ़ाने वाली बाक़ी चीज़ें आनन-फ़ानन में माँगी और पहुँचाई जाती हैं। अगर अगले कुछ मिनटों में कहीं किसी ने फ़ोन नहीं उठाया तो फिर आपको टीवी न्यूज़-रूम के लिए ग़रीबी का एक विशेषज्ञ किसी जादूगर के समान हवा में हाथ घुमा कर गढ़ना पड़ता है। बाइट/कोट के व्याकरण का चलन है, कुछ इतना कि रिपोर्टरों को अकसर बाइट-बिग्रेड कहा जाता है। दोष हमेशा बेचारे रिपोर्टर का नहीं होता। न्यूज़-रूम का ब्रह्म-वाक्य है कि सब कुछ कसा और दिलचस्प होना चाहिए।

समाचार के धंधे में आपको हर समय पाठक का ध्यान अपनी तरफ़ लगाए रखना होता है। मार्केटिंग मैनेजर की नज़र टीआरपी की रेटिंग पर टिकी होती है और वह कहता है कि असली ताक़त का यंत्र तो दर्शक के पास है, जिसका नाम है रिमोट-कंट्रोल ।

मार्केटिंग-मैनेज़र और फिर सम्पादक, पाठक या दर्शक की नब्ज़ पहचानने की कोशिश में जुटे रहते हैं ताकि उससे तार तुरंत जुड़ जाएँ और, उनका ज्ञान तुरंत न्यूज़-रूम में पहुँच जाता है। वरिष्ठ सम्पादकगण अकसर समाचारों की छँटनी एक अदेखे मगर स्मार्ट और गहरी जेब वाले पाठक/दर्शक की ज़रूरतों की मनगढ़ंत तस्वीर के आधार पर करते हैं। यह बात दुरुस्त है कि कुछ विषय लतमरुआ माने जाते हैं, तो कुछ परम पवित्र और उनसे इसी मान्यता के तहत निबटा जाता है, लेकिन असल उलझन तो किसी लाल-बुझक्कड़ की तरह पाठक का दिमाग़ पढ़ने की होती है। समाचार पत्रों में काम करते हुए मेरा पाला ऐसे प्रबंधकों से पड़ा है जो किसी तुरंता सर्वेक्षण के बाद एक बार फिर से सर्वेक्षण करवाते हैं, यह जानने के लिए कि दरहक़ीक़त पाठक की चाहत क्या है। बेहतरीन विज्ञापन आपकी तरफ़ खिंचे चले आएँ इसके लिए उपभोक्ता की ज़रूरत और चाहत पूरी करना ज़रूरी होता है। कम से कम कोई भी ऐसा कुछ परोसना नहीं चाहता जो बाद में बेस्वाद कहलाए।

मेरा वास्ता एक ऐसे ही तुरंता सर्वेक्षण से पड़ा। इसमें पाठकों से मानव-विकास से जुड़ी ख़बरी कहानियों के बारे में कुछ सवाल पूछे गये थे ताकि पता चले कि ये उन्हें झट से याद आती हैं कि नहीं। सर्वेक्षण के परिणाम निराशाजनक रहे। बाज़ार की भाषा में ऐसे तुरंता सर्वेक्षण को डिप-स्टिक कहा जाता है और ऐसे सर्वेक्षण से यही निकलकर आता है कि विकासपरक कथाओं की तुलना में पाठक को मिर्च-मसाला लगी चटख़दार स्टोरीज़ कहीं ज़्यादा याद हैं। बात किसी सिने-स्टार पर चलने वाले मुक़दमे की अदालती कार्रवाई या फिर किसी सेलिब्रेटी के सरोगेट बच्चे की हो तो टीवी चैनल और अख़बार इसे बढ़-चढ़ कर पेश करते हैं और इस क्रम में आपसी होड़ इस क़दर बढ़ती है कि वे एक-दूसरे की भौंड़ी नकल लगने लगते हैं। न्यूज़-रूम में रोज़मर्रा के समाचारों को ऐसी घटनाओं के साथ मुक़ाबले में उतरना पड़ता है और ऐसे में विकासपरक समाचार बहुत पीछे छूट जाते हैं।

न्यूज़-रूम को यह पट्टी पढ़ाई जाती है कि औसत पाठक के समय का ध्यान रखिए। प्रबंधन-सर्वेक्षण आपको बताते हैं कि अख़बारों के पठन का औसत समय 1990 के दशक के मध्यवर्ती सालों में घट कर नौ मिनट पर उतर आया है, जबकि इसके पहले के दशक में यही समय इसका तक़रीबन दोगुना था। हर अख़बार समृद्धि की सीढ़ियाँ चढ़ते शहरी पाठक का पीछा करना चाहता है, जबकि इस पाठक-वर्ग में विकासपरक स्टोरीज़ की भूख बड़ी कम है। आम तौर पर यही देखा गया है कि नवेली रुचि और गहरी जेब वाला पाठक नौकरी पर जाने की हड़बड़ी में पहला पन्ना देखने के तुरंत बाद खेल-जगत या फिर कारोबार-जगत के समाचारों वाले पन्ने (या फिर इन दोनों पर) पर एक सरसरी नज़र डालता है। टीवी पर समाचारों को देखने का समय भी कम होता जा रहा है और इस बात की भी आशंका लगी रहती है कि दर्शक अपनी ऊब में चलती कथा के बीच चैनल बदल देगा। यह एक कथेतर मगर महत्त्वपूर्ण कारण है जिसकी वज़ह से न्यूज़-रूम विकासपरक या फिर ग़रीबी से जुड़े समाचारों की जगह मनमोहिनी समाचारों को तरजीह देते हैं। सम्पादकों की पीठ इस बात के लिए थपथपायी जाती है कि वे औसत पाठक की समयगत बाधा को पलक झपकते समझ लें। आइए, ऐसे ही कुछ कथेतर मगर महत्त्वपूर्ण कारणों पर विचार करें जो न्यूज़-रूम के कामकाज के तरीक़े को बदल रहे हैं या फिर न्यूज़-रूम की रोज़मर्रा की प्राथमिकता तय करते हैं।

न्यूज़-रूम को वैसे तो तीखे प्रश्न पूछने की छूट मिली होती है, लेकिन अंततोगत्वा न्यूज़-रूम प्रचलित मूल्यों का ही संरक्षक साबित होता है। न्यूज़-रूम व्यवस्था की नुमाइंदगी करता है, पथ-विचलन के दृष्टांतों को सामने रखता है और परिवार, व्यवसाय, नातेदारी तथा पितृसत्ता के सवालों

को उठाता है, लेकिन इस सबके बावजूद वह शायद ही कभी सामाजिक मान-मर्यादाओं के विपरीत जा पाता हो। समाचार-विमर्श जिन आधिकारिक स्रोतों पर आश्रित होते हैं वे समाज की सत्ता-संरचना के हिस्से होते हैं— यह तथ्य इस बात को सबसे बेहतर तरीक़े से इंगित करता है। यदि स्टोरी पढ़ कर लगे कि इसमें ऐसे किसी आधिकारिक स्रोत का हवाला नहीं है जिससे स्टोरी एक झटके में विश्वसनीय प्रतीत हो तो ऐसी स्टोरी बार-बार रिपोर्टर को लौटाई जाती है। ताक़तवर व्यक्ति या संस्थाएँ प्रेस-कांफ्रेंस आयोजित करें तो उन्हें वरीयता दी जाती है जबकि साधारण जान पड़ते व्यक्ति या संस्थाएँ समाचारों में स्थान पाने के लिए धक्का-मुक्की करते रह जाते हैं।

ताक़त और अधिकार के मुक़ाम पर बैठे व्यक्तियों की सहज समझ परोसने की बात हो तो न्यूज़-रूम एक लोकप्रिय और स्मार्ट मेजबान होता है। रोज़मर्रा की दुनिया को दोस्त बनाम दुश्मन तथा नायक बनाम खलनायक के द्वैत में बाँट कर देखने की सम्मतिपरक विश्व-दृष्टि रचने में न्यूज़-रूम वर्चस्वकारी ढंग से केंद्रीय भूमिका निभाता है। न्यूज़-रूम के संज्ञानात्मक प्रतीक भाषाई व्यवहार से बँधे होते हैं और यह भाषाई व्यवहार कौशल, अनुभव और कारीगरी की माँग करता है। एरिक्सन, बरानेक तथा चान का मानना है कि जिन चीज़ों को हम गाहे-बगाहे सुनते और देखते हैं वे आसानी से प्रतीकों और रूपकों की शक्ल ले लेते हैं और हम इन्हें आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। उपर्युक्त लेखक-त्रयी का कहना है कि यह ढर्रा ज्ञान और विवेक, न्यूज़-फ़ार्मेट तथा स्रोत के चयन या अपवर्जन के साथ-साथ किसी मीडिया संस्थान की बाज़ारोन्मुखी प्रवृति के अनुकूल बदलता रहता है। मिसाल के लिए किसी कथा को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फ़र्स्ट लीड और महत्त्व के लिहाज़ से अत्यंत साधारण गिने जाने वाले न्यूज़-ब्रीफ़ के बीच मिलने वाली जगह से तय होता है कि उस घटना का उस समय सामाचारों के बाज़ार में कितना महत्त्व है।

इससे भी ज़्यादा महत्त्व की बात यह है कि सत्ता-संबंधों की अनवरत रिपोर्टिंग और सत्ता-सम्पन्न व्यक्तियों को स्रोत के रूप में चुनने की वजह से मीडिया व्यवस्था-तंत्र, निगरानी और वैधानिक नियंत्रण का औज़ार बन जाता है। क़ानून, नैतिकता और ऊँच-नीच के बारे में जो मान्यताएँ प्रचलन में होती हैं, न्यूज़-रूम का प्रबंध सँभालने वाले उन्हीं मान्यताओं के विचारधारात्मक आधार पर चलते हैं। जेंडर संबंधी कवरेज़ में यही सत्ता-संबंध प्रतिध्वनित होता है। मिसाल के लिए मिशेल मैतलार्त का कहना है कि लोक-कल्याण और उत्पादन का क्षेत्र मर्दों के ज़िम्मे रख छोड़ा गया है जबकि निजी जीवन और प्रजनन की जिम्मेदारी औरतों पर ओढ़ाई गयी है।

न्यूज़-रूम के भीतर और सम्पादकीय बैठकों में होने वाली आपसी बातचीत में मीडिया जिस भाषा का इस्तेमाल करता है उससे भी सत्ता-संबंधों की प्रकृति झलकती है। भारत के अंग्रेज़ी समाचार पत्र पश्चिमी देशों में जारी मीडिया-व्यवहार का पालन करते हुए समाचार बनने योग्य सामग्रियों को सेक्सी या फिर अपमार्केट कहते हैं। वरिष्ठ सम्पादकों और यहाँ तक कि उनके महिला सहकर्मियों के बीच भी ये शब्द दैनंदिन व्यवहार में लाए जाते हैं। इस तर्क पर चलें तो राजनेता या फिर क्रिकेट मैच-फ़िक्सिंग से जुड़े बड़े घोटालों की ख़बरें सेक्सी हैं, लेकिन किसान-आत्महत्या की ख़बर नहीं। कोई भी ऐसी चीज़ जो गहरी जेब वाले पाठक के लिए सीमित दिलचस्पी का विषय हो सीधे-सीधे डाउनमार्केट है।

न्यूज़-रूम में लैंगिक दृष्टि से भेदभाव भरी और राजनीतिक दृष्टि से ग़लत मानी जाने वाली भाषा का भी धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है और भाषा के इस इस्तेमाल को यह कह कर जायज़ ठहराया जाता है कि इससे सत्ता-प्रतिष्ठान के प्रति न्यूज़-रूम की अ-श्रद्धा ज़ाहिर होती है। (चंद परम-पावन महानुभावों को अपवादस्वरूप छोड़ दें, तो न्यूज़-रूम हर एक के प्रति अ-श्रद्धा से भरा होता है) न्यूज़-मीटिंग में सेक्स और हिंसा के समाचारों पर घंटों चर्चा चलती है और इसे अजीब नहीं माना जाता। अधिकतर न्यूज़-रूम पुरुषों के दबदबे में चलते हैं। जिन न्यूज़-ऑपरेशंस का रिश्ता सीधे-

सीधे सत्ता-प्रतिष्ठान से होता है उनकी अगुआई पुरुष सम्पादक करते हैं जबकि फ़ीचर और मैगज़ीन जैसे हिस्सों की अगुवाई महिला सम्पादकों (यदि हों तो) के हाथ में होती है। यह अनकहा नियम भारत के अधिकतर भाषाई अख़बारों पर भी समान रूप से लागू होता है। एक सुखद बदलाव महानगरों और राज्यों की राजधानियों में देखा जा सकता है जहाँ आजकल कुछ महिला सम्पादकों ने राजनीतिक बीट और न्यूज़-ऑपरेशंस सँभालना शुरू किया है हालाँकि न्यूज़-रूम लैंगिक दृष्टि से समदर्शी स्थान बनने से अभी कोसों दूर है।

नया अभिसारी या महामेली (कन्वर्जेंट) न्यूज़-रूम अपने कर्मचारियों से भारी उम्मीदें रखता है। सोशल मीडिया और वेब के लिए अंतर्वस्तु की रचना माँग करती है कि इसके पत्रकार हर घटना के प्रति चुस्ती-फुर्ती का परिचय दें। पुराने वक़्त में अख़बार की दुनिया में हर शाम एक डेडलाइन की तरह होती थी लेकिन इसके विपरीत आज बीतता हुआ हर पल एक डेडलाइन की तरह होता है। यदि कोई चीज़ अभी और यहीं आकार ले रही है तो इसे अख़बार के कल के संस्करण का इंतज़ार किये बग़ैर हाथ के हाथ अख़बार की वेबसाइट पर डालना होता है। टीवी चैनल विज्ञापनी ब्रेक के दौरान टीवी स्क्रीन पर एक स्क्रॉल चलाते हैं या फिर प्री-रिकार्डेड फ़ीचर चल रहा हो तो भी उसके नीचे एक स्क्रॉल चलता रहता है। न्यूज़-रूम के कर्मचारियों के लिए इंटरनेट ने फुर्ती में करते रहने की चुनौती को और भी बढ़ा दिया है। न्यूज़-रूम के कर्मचारियों को अपने सहयोगियों द्वारा लिखी या फिर एजेंसी की ग्राहकी से प्राप्त कथाओं पर निर्भर रहने की जगह सिटीज़ंस जर्नलिज़म या यूज़र जेनरेटेड कंटेंट जैसी नयी सूझ सामने लानी पड़ती है। और हफ़्ते के सातों दिन और चौबीसों घंटे चलने वाली इस आपाधापी भरी दिन चर्या के बीच सम्पादकों को सुनिश्चित करना पड़ता है कि इस ढर्रे पर बनने वाला समाचार हर लिहाज़ से पूर्ण हो, परोसी जा रही सामग्री चुस्त-दुरुस्त हो और परम-पावन महानुभावों को हानि पहुँचाए बग़ैर व्यवस्था को चलाए-बनाए रखे।

भारतीय मीडिया व्यवसाय

भारतीय मीडिया उद्योग में, ख़ासकर उदारीकरण के बाद से, उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। नब्बे के दशक में पश्चिमी दुनिया में अख़बार के व्यवसाय में प्रसार और मुनाफ़े के लिहाज़ से कमी आयी, लेकिन इसी दशक में भारत का अख़बार-उद्योग बल्लियों उछला और यह उछाल अब भी जारी है। भारत में विविध भाषाओं में चलने वाले 825 पंजीकृत टीवी चैनल और 80,000 से ज़्यादा अख़बार हैं और यह संख्या अभी बढ़ रही है। क्षेत्रीय प्रेस की प्रसार-संख्या नब्बे के दशक में 167 फ़ीसदी बढ़ी; नये सिरे से वृद्धि दर्ज करने वाले क्षेत्रीय भाषाओं के अख़बार में असमी (613प्रतिशत), तेलुगु (372 प्रतिशत), पंजाबी (250 प्रतिशत), ओडिया (233 प्रतिशत) तथा हिंदी (226 प्रतिशत) के अख़बार प्रमुख हैं। इस बढ़ती में आप फ़िल्म, मनोरंजन और इंटरनेट व्यवसाय के विस्तार को जोड़ दें तो फिर मीडिया उद्योग के महाविस्तार का आँकड़ा साल 2008 के लिए 750 अरब रुपये (16 अरब अमेरिकी डॉलर) पर पहुँचता है। आँकड़ों की बनने वाली तस्वीर में नज़र आता है कि पाँच साल की अवधि के भीतर मीडिया उद्योग की शीर्ष दस कम्पनियों में से हरेक का आकार दोगुना बढ़ गया है। फ़िक्की-केपीएमजी रिपोर्ट-2012 के अनुसार, मीडिया और मनोरंजन उद्योग का क्षेत्र 14.9 फ़ीसदी सालाना की बढ़वार के साथ साल 2016 में 1457 अरब रुपये का हो जाएगा। मंदी के बीच वाक़ई यह कमाल की वृद्धि है!

2000 के दशक में राजस्व बढ़ने के साथ मीडिया कम्पनियों ने अपने पुराने ढाँचे का व्यावसायीकरण करना शुरू कर दिया। इस अवधि में मीडिया व्यवसाय कुछेक हाथों में सिमटने लगा। यह एक तरह से मीडिया व्यवसाय में चंद बड़े व्यवसायी घरानों के उभार की शुरुआत का लक्षण था। मीडिया उद्योग के नवांगतुकों में शामिल है आदित्य बिड़ला समूह जिसने टीवी टुडे/लिविंग मीडिया ग्रुप में ख़ासा निवेश किया है। दूसरा है मुकेश अम्बानी समूह जिसे इनाडु और टीवी 18/सीएनएन-आईबीएन नेटवर्क सहित

कई समाचार और मनोरंजन नेटवर्क का आंशिक या पूर्ण मालिकाना हासिल है, और ओसवाल समूह जिसका अब एनडीटीवी के मालिकाने में साझा है। ऐसे में समाचार और मनोरंजन व्यवसाय के आपस में जुड़ने की प्रक्रिया तेज़ हुई है जिससे समाचार और विज्ञापन के बीच का अंतर धुँधला पड़ रहा है। कॉरपोरेट जगत के अगुआ अब समस्या-समाधान की शैली में अपने ग्राहक के पास सॉल्यूशन प्रोवाइडर के बैनर तले पहुँच रहे हैं। उन्हें पता है कि ग्राहक अपनी सेवा और सामान का प्रचार करना चाहता है। इससे विज्ञापनों की दुनिया में एक बड़े बदलाव के साथ नये युग की शुरुआत हुई है। विज्ञापनकर्ताओं को मनचाही चीज़ हासिल हुई है : उनके हाथ में आयी हैं ऐसी कम्पनियाँ जिनके पास बेचने के लिए समाचार, मनोरंजन और जीवन-शैली विषयक सेवाओं का भरा-पूरा ख़ज़ाना है, और साथ ही ये कम्पनियाँ इस मामले में सम्पादन संबंधी समझौता व लेन-देन करने को भी तैयार हैं।

मीडिया-स्वामित्व का न्यूज़-रूम पर प्रभाव

इस महामेल के असर से न तो न्यूज़-रूम अछूता है न ही रोज़मर्रा की पत्रकारिता के आचार-व्यवहार। नया मंत्र प्लेटफ़ॉर्म-एग्नॉस्टिक जर्नलिज़म का है, मतलब ऊँचे मोल की अंतर्वस्तु कम लागत में तैयार कीजिए। बहुत सम्भावना है कि आने वाले सालों में कम से कम बड़ी कम्पनियों में यह ढर्रा एक मानक के तौर पर लागू हो। मीडिया संगठनों में एक समय में मज़दूर-संगठन बड़े ताक़तवर थे, लेकिन अब कमज़ोर पड़े हैं और ऐसे में प्लेटफ़ॉर्म-एग्नॉस्टिक जर्नलिज़म के चलन को भीतर से चुनौती देने वाला कोई नहीं है। पश्चिम की कई मीडिया कम्पनियों ने सचमुच अपने पुराने न्यूज़-रूम को कुर्सी-मेज सहित ध्वस्त कर दिया है। इसकी जगह महामेल की नयी ज़रूरतों के मद्देनज़र न्यूज़-रूम की नयी काया तैयार की गयी है। हालत यह है कि नये ढर्रे के सॉफ़्टवेयर तैयार किये गये हैं और उन्हें एकदम विशेषीकृत बनाया गया है जो कि समाचार-व्यवसाय से संबंधित पुराने साफ़्टवेयर से एकदम ही अलग है। इस मामले में कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मोटी रक़म लेकर हर ज़रूरत के लिए ख़ास समाधान प्रस्तुत कर रही हैं। कई भारतीय मीडिया कम्पनियाँ नये मॉडल के अध्ययन के लिए अपने प्रतिनिधियों को बाहर भेज रही हैं और वह दिन दूर नहीं जब यह चलन भारत में भी ज़ोर पकड़ लेगा।

पश्चिमी देशों के न्यूज़-रूम की ही तरह भारतीय न्यूज़-रूम में भी अब कई मीडिया-रूप— अख़बार, टीवी चैनल, एफ़एम स्टेशन, मोबाइल फ़ोन, वेबसाइट, ब्लॉग और सोशल मीडिया— को एक ही दफ़्तर से संचालित किया जा रहा है और वह भी बहुत कम लोगों के सहारे। प्रिंट मीडिया के कई संस्थानों में पॉडकास्टिंग और वॉडकास्टिंग को दैनंदिन तौर पर जोड़ा जा रहा है। इसके लिए पहले सूचना देने वाले की टिप्पणी की ऑडियो या वीडियो रिकार्डिंग कर ली जाती है, फिर उसे सीधे या न्यूज़-रूम के मार्फ़त वेबसाइट पर डाल दिया जाता है, साथ ही साथ टिप्पणी की कुछ पंक्तियों का उद्धरण के तौर पर समाचारों में इस्तेमाल कर लिया जाता है। कुछ मीडिया कम्पनियों के पास केबल डिस्ट्रीब्यूशन नेटवर्क, आउट ऑफ़ होम ऐंड डिस्प्ले और हाइवे बिलबोर्ड्स की भी मिल्कियत है। इससे मीडिया के धंधे में उतरे बड़े खिलाड़ियों को नियंत्रण और गहराई के मामले में इस धंधे के छुटभैयों के ऊपर ख़ासी बढ़त हासिल हो जाती है। मीडिया की अंतर्वस्तु पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है, यह शोध का एक उत्तेजक विषय हो सकता है लेकिन इस विषय पर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है। मिसाल के लिए, बड़े विज्ञापनदाता चाहते हैं कि उनका ब्राण्ड ख़ुशगवार घटनाओं से जोड़ा जाए। वे उदास और खिन्न करने वाले समाचारों पर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं। अगर इस संदर्भ में देखें तो मीडिया का भुखमरी और ग़रीबी के समाचारों को डाउनमार्केट मान कर उससे मुँह फेरे रखना धंधे में मुनाफ़ा कमाने की कारगर तरक़ीब है। मौज़-मज़े की जितनी ज़्यादा ख़बरें होंगी, मस्ती भरे विज्ञापन उतने ही ज़्यादा मिलेंगे!

यह बात तो ख़ैर समझ में आने वाली है कि उदारीकरण के दौर के बाद भारत में अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाने को एक सकारात्मक गुण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन उस स्थिति की

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 333

'पेड-न्यूज़ की परिघटना ... ने अत्यंत सांस्थानिक, सुगठित और व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है और इस प्रक्रिया में यह भारत के लोकतंत्र पर चोट कर रही है।' पेड-न्यूज़ की परिघटना को लेकर ख़ूब शोरगुल मचा। इसके बावजूद मीडिया-उद्योग के कुछ बड़े खिलाड़ियों के लिए यह अब भी एक चोखा धंधा है और उन्होंने अपना सम्पादकीय स्थान बेचना बदस्तूर जारी रखा है।

कल्पना कीजिए जब बाज़ार के हवाई घोड़े पर सवार कोई कम्पनी जोश में मुक्त बाज़ार के उन्हीं नियमों को ठेंगा दिखाये जिसने उसे अपना मुनाफ़ा अधिकतम बनाए रखने की स्वतंत्रता दी है। यहाँ मिसाल के लिए पेड-न्यूज़ की घटना का ज़िक्र किया जा सकता है। इसकी शुरुआत पहले बड़े मीडिया घरानों ने एक नवेली व्यावसायिक तरक़ीब के रूप में की, लेकिन बाद को पेड-न्यूज़ की घटना ने व्यापक रूप ग्रहण कर लिया। भारतीय प्रेस परिषद द्वारा गठित एक समिति की टिप्पणी है : 'पेड-न्यूज़ की परिघटना ... ने अत्यंत सांस्थानिक, सुगठित और व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है और इस प्रक्रिया में यह भारत के लोकतंत्र पर चोट कर रही है।' पेड-न्यूज़ की परिघटना को लेकर खूब शोरगुल मचा। इसके बावजूद मीडिया-उद्योग के कुछ बड़े खिलाड़ियों के लिए यह अब भी एक चोखा धंधा है और उन्होंने अपना सम्पादकीय स्थान बेचना बदस्तूर जारी रखा है। दिसंबर, 2012 के गुजरात विधानसभा के चुनावों में चुनाव आयोग ने पेड-न्यूज़ के चार सौ उदाहरणों की शिनाख़्त की थी। भारत के सबसे बड़े और ताक़तवर मीडिया समूह बेनेट कोलमैन ऐंड कम्पनी लिमिटेड ने नब्बे के दशक में प्राइवेट ट्रीटी की शुरुआत की और किसी कम्पनी के शेयर हासिल करने के बदले उसके लिए रिपोर्टिंग करने का चलन शुरू हुआ। इस तरह की स्टॉक-फ़िक्सिंग और उसके अन्य रूप स्वार्थ-प्रेरित समाचारों की रचना के ज़रिये शेयर बाज़ार में हेर-फेर करते हैं, और इसके परिणामस्वरूप घाटा उठाना पड़ता है उस छोटे और मध्यवर्गीय निवेशक को जो मुक्त-बाज़ार की ख़ूबियों पर विश्वास तो करता है लेकिन बाज़ार संबंधी ज़रूरी सूचनाएँ हासिल करने के लिए स्वतंत्र मीडिया पर ही निर्भर होता है ताकि बाज़ार में पैसा लगाने के बारे में कोई निर्णय ले सके।

यह बात जानी-पहचानी है कि पेड-न्यूज़ के तहत स्वार्थ-प्रेरित समाचारों को फ़ीस के बदले दैनंदिन कवरेज़ की शक्ल में पेश किया जाता है और यह काम मुख्य रूप से चुनाव में खड़े उम्मीदवार, फ़िल्म-निर्माता, अपने ख़ास एजेण्डे को बढ़ाने में लगे व्यक्ति या फिर उन निजी कम्पनियों के पक्ष में किया जाता है जो स्टॉक-मार्केट में आईपीओ (इनिशियल पब्लिक ऑफ़रिंग्ज़) के ज़रिये धन-उगाही

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 334

करना चाहती हैं। चुनाव के समय पेड–न्यूज़ की बाढ़–सी आ जाती है और तब एक सरसरी नज़र डाल कर भी इसे पहचाना जा सकता है। प्राइवेट ट्रीटी भी पेड–न्यूज़ जैसा ही है, नाम भले उसका अलग हो। प्राइवेट ट्रीटी के तहत किसी कम्पनी या व्यक्ति के बारे में समाचार इस तरह गढ़े जाते हैं कि पाठक या दर्शक उसे सामान्य समाचार मानकर पढ़े या देखे। ऐसे अधिकतर समाचार मीडिया–संस्थान के मालिक या वरिष्ठ प्रबंधक के सीधे हस्तक्षेप से छपते हैं, लेकिन कई दफ़ा इसमें चुनिंदा पत्रकारों को भी शामिल किया जाता है। अधिकतर समाचार–पत्रों में ऐसे न्यूज़–आयटम सीधे न्यूज़–रूम में पहुँचते हैं और इनके साथ कुछ भी न बदलने का निर्देश नत्थी होता है। ऐसे ज़्यादातर न्यूज़–आयटम को न्यूज़–रूम के वरिष्ठ कर्मचारी के मार्फ़त सीधे समाचार पत्र के पन्ने/कॉलम में लगाया जाता है। इसे आप न्यूज़–रूम की सम्पादकीय शार्ट–सर्किटिंग कह सकते हैं।

हालाँकि पेड–न्यूज़ और प्राइवेट ट्रीटी हाल के समय में लगातार आलोचना के घेरे में आये हैं, लेकिन पाठक/ दर्शक को केवल इसी ज़रिये नहीं ठगा जाता। ज़्यादातर प्रकाशनों के सम्पादकीय कोने में सशुल्क प्रायोजित फ़ीचर और एडवर्टोरियल का इस्तेमाल किया जाता है। पेड–न्यूज़ से निकलते राजनीतिक, वैधानिक और नैतिक निहितार्थों की वजह से राजनीति के गलियारों में भी हलचल मची है। पेड–न्यूज़ मीडिया की नैतिकता के बुनियादी मानकों–मूल्यों के ख़िलाफ़ है। वैधानिक धरातल पर देखें तो पेड–न्यूज़ से चुनावी आचार संहिता और कराधान संबंधी नियमों का उल्लंघन होता है, साथ ही यह उस सहज विश्वासी पाठक के साथ एक विश्वासघात की तरह है जो मान कर चलता है कि समाचार पेशेवर पत्रकार के हाथों पूरी निष्पक्षता बरतते हुए तैयार और पेश किया गया है। पेड–न्यूज़ की घटना चुनाव के समय मतदाता के विवेकपूर्ण फ़ैसला लेने के अधिकार पर चोट करती है। साथ ही जो उम्मीदवार समाचार में बने रहने या फिर अपने विरोधी की तरफ़ से लगाए जा रहे मिथ्यापवाद की काट करने के लिए पैसे नहीं दे सकते उनके लिए चुनावी–मुक़ाबले में होड़ में बने रहना पेड–न्यूज़ के कारण मुश्किल होता है।.

पीआर (जन–सम्पर्क) की ताक़त और स्पिन डॉक्टर

पत्रकारिता का एक नया चेहरा सामने आया, और वह भी संयोगवश, जब एक ताक़तवर पीआर कम्पनी की प्रमुख नीरा राडिया और देश के ख़ासम–ख़ास में शुमार कुछ लोगों के बीच टेलीफ़ोन पर हुई बातचीत का टेप 2010 में कॉरपोरेटी दुनिया के दिग्गजों की आपसी प्रतिस्पर्धा की वजह से सार्वजनिक हुआ। मीडिया पर नज़र रखने वाले लोग इस घटना से सदमे में नहीं आये, बल्कि उन्होंने राहत की साँस ली क्योंकि टेप में दर्ज बातचीत के सार्वजनिक हो जाने से वह सब कुछ खुले में आया जिसे भीतरख़ाने का ही कोई आदमी जान सकता था और जिसकी पुष्टि कर पाना मुश्किल होता था। फ़ोन पर हुई सैकड़ों बातचीतों में राजनेता–कॉरपोरेट और मीडिया की मिलीभगत जानने में रुचि रखने वाले किसी व्यक्ति के लिए यह बड़ी चटख़ारेदार सामग्री थी। काली कमाई की आशंका के मद्देनज़र इस बातचीत को साल 2008 और 2009 के बीच आधिकारिक अनुमति से टेप किया गया था। क़द्दावर सम्पादकों की मदद और राजनीति के गलियारों में उनके सम्पर्कों के बूते एक पीआर कम्पनी ने जिस सहजता से राजनीति के शीर्ष स्तर पर नियुक्तियाँ तय कीं, उसके आगे पेड–न्यूज़ का रोग बहुत छोटा जान पड़ता है। टेप से इस बात की भी झलक मिली कि मीडिया में चुनिंदा आक्रोश को प्रबंधकीय कौशल के साथ हवा देकर टेलीकॉम स्पेक्ट्रम और ख़नन–ठेका सरीखे मलाईदार संसाधन हासिल करने के लिए किस तरह नीतियों को तोड़े–मरोड़े जाने के साथ–साथ एक आधारहीन जनमत तैयार किया जा सकता है। एक बार फिर यह सब न्यूज़–रूम को बाइपास करते हुए शीर्ष स्तर पर हुआ। व्यापार और पत्रकारिता का यही शीर्ष स्तर, जब नियमन की बात आती है तो उसका पुरज़ोर विरोध करते हुए, सिर्फ़ स्व–नियमन की बात करता है।

मीडिया और हाशिये के लोग

एक जीवंत और स्वतंत्र मीडिया लोकतंत्र की बड़ी ज़रूरत है। चिंता की बात है कि सामाजिक और आर्थिक रूप से कमज़ोर तबक़े की आवाज़ मीडिया में न के बराबर दर्ज होती है। प्रसार-संख्या के मामले में शीर्षस्थ हिंदी के तीन और अंग्रेज़ी के तीन दैनिकों पर केंद्रित एक अध्ययन से पता चलता है कि इन दैनिकों के कुल कवरेज़ में भारत की तीन चौथाई आबादी की चिंता, संकट और मुद्दों के कवरेज़ का हिस्सा बहुत कम (दो फ़ीसदी) है। जिनकी आवाज़ मीडिया में दर्ज होने से रह जाती है वे निश्चित ही भारत के ग्रामीण और आदिवासी-अँचलों में रहने वाले सर्वाधिक ग़रीब लोग हैं। उपर्युक्त अध्ययन में शामिल अख़बारों के एक हज़ार से ज़्यादा समाचारों की अंतर्वस्तु के विश्लेषण से पता चलता है कि देश के ग्रामीण और आदिवासी अँचलों के बारे में जो थोड़ी-सी कवरेज़ होता है उसमें भी हिंसा, आपदा या फिर ग्रामीण अँचलों में होने वाले व्यापार से संबंधित ख़बरें प्रमुख होती हैं। इस प्रक्रिया में खेतिहर संकट, भुखमरी, किसान आत्महत्या या फिर अभाव की स्थिति में होने वाले पलायन सरीखे मुद्दे मुख्यधारा की मीडिया की रोज़मर्रा के कवरेज़ से बाहर रहते हैं। यह स्थिति सचमुच विडम्बनापूर्ण है क्योंकि बाज़ार मॉनसून की बेहतरी और ग्रामीण अँचलों में बढ़ी क्रयशक्ति का स्वागत अहोभाव से करता है और इस लिहाज़ से दूर-दराज़ के इलाक़ों की उदास करने वाली ख़बरों का मीडिया से बाहर रहना ख़ुद बाज़ार के लिए बुरा है।

तर्क दिया जाता है कि मुख्यधारा के मीडिया के पाठक, पत्रकार और विज्ञापनदाता ज़्यादातर शहरी हैं और ग्राहक-केंद्रित नज़रिये का तकाज़ा है कि उसे वही दिया जाय जो वह चाहता है। ऐसे में खेतिहर-संकट, लचर प्रशासन या फिर आत्यांतिक ग़रीबी की ख़बरों के ऊपर उपभोग, ठाठ-बाट भरी जीवन-शैली और फुर्सतिया बातों को तरजीह मिलना स्वाभाविक मान लिया जाता है। एकदम व्यावहारिक धरातल पर देखें तो कोई न्यूज़-रूम जितनी कथाओं को प्रकाशन-प्रसारण के लिए छाँट सकता है, उससे सौ गुना ज़्यादा तादाद में ख़बरें और प्रेस विज्ञप्तियाँ आ धमकती हैं। इसलिए, अगर ऊपर बताई गयी कसौटी के आधार पर छँटनी करें तो कमज़ोर क़रार दी गयी ख़बरिया कथाओं के छँटने की प्रबल आशंका है। बहरहाल, यह बात एकदम ही अलहदा है कि समाज के हाशिये के लोगों के बारे में ख़बरें इसलिए भी नहीं आ पातीं क्योंकि मीडिया ग्रामीण-अँचल की समृद्धि और शहरी इलाक़े की सम्पन्नता के तथ्य-बिंदुओं के बीच कोई रिश्ता बैठा कर देखने से चूक जाता है। मिसाल के लिए, दूर-दराज़ के इलाक़े में सूखा पड़े या कोई और प्राकृतिक आपदा आये, तो इसके असर में शहर के बाज़ारों की रौनक़ फ़ीकी पड़ जाती है और यह तभी लौट सकती है जब बम्पर पैदावार हो या फिर सरकार अपनी तरफ़ से भारी-भरकम निवेश करे। इस बात की सबसे अच्छी मिसाल तो यही है कि भारत अपने ग्रामीण-अँचल के बाज़ार की ताक़त के बूते वैश्विक आर्थिक मंदी के संकट से अपने प्रतिस्पर्धी देशों की तुलना में कहीं ज़्यादा तेज़ी से उबर सका। इसलिए, ग्रामीण-आय की घट-बढ़ का सीधा असर उन शहरी बाबुओं की नौकरी की सुरक्षा और कुशल-मंगल पर होता है जिनकी ताबेदारी का दावा मीडिया करता है।

न्यूज़-रूम में दलित और आदिवासी समाज के लोगों का अभाव, समाज के हाशिये के लोगों के प्रति भारत की मुख्यधारा की मीडिया के पूर्वग्रह से भरे होने का सर्वाधिक स्याह संकेतक है। शीर्षस्थ पदों पर महिलाओं की मौजूदगी भी नाम-मात्र की है। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सी.एस.डी.एस.) की एक रपट से पता चलता है कि भारत के शीर्षस्थ अख़बारों में शायद ही दलित समुदाय का कोई व्यक्ति वरिष्ठ सम्पादकीय पद पर बैठा मिलेगा और ज़्यादातर अख़बारों में अत्यंज मानी जाने वाली जातियों का कोई भी पत्रकार नहीं मिलता। माना जाता है कि उत्तर भारत के ज़्यादातर राज्यों में ब्राह्मण जाति के लोग चार से आठ फ़ीसदी के बीच होंगे। तो भी न्यूज़-रूम में आधे से ज़्यादा पत्रकार इसी जाति के मिल जाएँगे और शीर्षस्थ पदों पर बहुत सम्भव है सिर्फ़ इसी जाति के

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 336

मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खम्भा मानना ... यह लोकप्रिय सिद्धांत पहले से मान कर चलता है कि ज़रूरी आधिकारिक सूचनाएँ ख़ुद ही मुक्तभाव से चहलक़दमी करते हुए पत्रकार तक आ जाती हैं। लेकिन मीडिया ... विधायिका, न्यायपालिका या कार्यपालिका की तरह स्वायत्त नहीं है और उसके पास ... ऐसा कोई क़ानूनी अधिकार नहीं है जिसके बूते वह ... किसी आधिकारिक दस्तावेज़ की जाँच की माँग कर सके।

लोग बैठे मिलें। रॉबिन जेफ़्री ने लिखा है— 'यह बात याद रखने लायक है कि 1999 में भारत का राष्ट्रपति एक दलित था, लेकिन भारत के पास उस वक़्त एक भी वरिष्ठ दलित पत्रकार नहीं था।' भारत में दलित-समुदाय के व्यक्ति द्वारा संचालित प्रकाशनों की संख्या आज भी इतनी ज़्यादा कम है कि उसकी अनदेखी नहीं की जा सकती। इसके उलट अमेरिका में अश्वेत तबक़े के सदस्यों द्वारा संचालित प्रकाशनों की संख्या 1991 में ही 150 थी और उसके बाद से तो इस संख्या में बहुत इज़ाफ़ा हुआ। अमेरिका सहित कई अन्य देशों में मीडिया-उद्योग स्वयं ही समान अवसर की नीति के तहत अपना लक्ष्य निर्धारित करता है। इससे भी थोड़ी मदद मिली है, हालाँकि वहाँ इस मामले में भेद-भाव अभी तक पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया है।

न्यूज़-रूम, मीडियाकरण और कुछ प्रचलित मीडिया-सिद्धांत

समाचार-व्यवसाय के विशाल तंत्र के भीतर न्यूज़-रूम बस एक छोटा-सा पुर्ज़ा मात्र है जहाँ समाचार की रचना के व्यष्टिगत और समष्टिगत परिप्रेक्ष्य एक साथ मिल कर तस्वीर को मुक़म्मल बनाते हैं। न्यूज़-रूम को प्रस्थान-बिंदु मान कर देखें तो मीडिया और समाज के रिश्ते को परिभाषित करने वाले कई प्रचलित सिद्धांत सारहीन साबित होते हैं। न्यूज़-रूम शायद ही कभी लोकतंत्र का चौथा खम्भा जान पड़ता है। दरअसल, समाचार के कारख़ाने के इस तल्ले की कोई भी बात लोकतंत्र के अन्य तीन खम्भों से नहीं मिलती। मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खम्भा क़रार देने वाला तमग़ा हास्यास्पद है। इसकी बड़ी वजह यह है कि भारत सहित दुनिया के अन्य उदारतावादी लोकतंत्रों में मीडिया को जाँच-परख की वैधानिक ताक़त नहीं दी गयी है। शासन, नीति और सार्वजनिक जीवन की परीक्षा का जिम्मा मीडिया का कैसे हो सकता है अगर मीडिया के पास इसके लिए कोई संविधानप्रदत्त शक्ति नहीं है? सम्भवत: मीडिया द्वारा प्रसारित-मुद्रित सत्ता-विरोधी ख़बरिया कहानियों से इस तरह की धारणा बनती है, लेकिन हक़ीक़त इससे अलग है। ब्रिटिश राजनेता एडमण्ड बर्क के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने मीडिया के बारे में सबसे पहले लोकतंत्र का चौथा खम्भा जैसे फ़िक़रे का इस्तेमाल

किया था। एडमण्ड बर्क ने जब कहा था कि प्रेस लोकतंत्र को चलाए रखने के लिए ज़रूरी सरकार का चौथा विभाग है तो इससे उनकी मुराद एकदम अलग थी।

दरअसल मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खम्भा मानना मीडिया के बारे में बहुत ज़्यादा रोमानी होकर सोचना है। यह मुहावरा सिर्फ़ राजनीतिक भाषणों के लिए अच्छा है। यह लोकप्रिय सिद्धांत पहले से मान कर चलता है कि ज़रूरी आधिकारिक सूचनाएँ ख़ुद ही मुक्तभाव से चहलक़दमी करते हुए पत्रकार तक आ जाती हैं। लेकिन मीडिया लोकतंत्र के अन्य तीन खम्भों— विधायिका, न्यायपालिका या कार्यपालिका की तरह स्वायत्त नहीं है और उसके पास भारत के महालेखा परीक्षक (सीएजी) या फिर न्यायपालिका की तरह ऐसा कोई क़ानूनी अधिकार नहीं है जिसके बूते वह अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वहन करने के क्रम में किसी आधिकारिक दस्तावेज़ की जाँच की माँग कर सके। मीडिया ऐसा जनहित में करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। इसलिए सर्वाधिक खोज-बीन वाली कहानियों का जन्म कुछ जन-भावी स्रोत या फिर उत्साही व्यक्ति के मार्फ़त हासिल लीक्स से होता है। हाल के वक़्त में सूचना के अधिकार से इस मामले में आम नागरिक के लिए थोड़ा फ़र्क़ पड़ा है लेकिन न्यूज़-रूम के लिए नहीं, क्योंकि वह इस अधिकार का प्रयोग करके किसी फ़ाइल को देखने के लिए तीस दिन की अनिवार्य प्रतीक्षा में बैठा नहीं रह सकता। अगर एडमंड बर्क के ही शब्दों का इस्तेमाल करें तो लोकतंत्र का चौथा विभाग निश्चित ही इससे कहीं बेहतर होना चाहिए था। ज़ाहिर है, आज के समय में यह मुद्दा पारदर्शिता के व्यापक सरोकार से जुड़ा है जिसका अंतरंग संबंध मीडिया की स्वतंत्रता से है।

सूचना देने वाला भीतर चल रही कोई बात लीक करेगा, तभी रिपोर्टर उसके आधार पर कथा बुनेगा। रिपोर्टर के कोण से देखें तो यह उसके लिए अपने सूचना-स्रोत पर पूर्ण निर्भरता की स्थिति है और यह स्थिति इस प्रचलित धारणा का खण्डन करती है कि पत्रकार राजनीतिक सत्ता-प्रतिष्ठान के भीतरख़ाने का आदमी होता है। पत्रकार राजनीतिक प्रक्रिया के अंतरंग को उसी तरह से जानता है जैसे कोई नीति-निर्माता या नौकरशाह— न्यूज़-रूम इस भ्रम में क़तई नहीं रहता। सम्पर्कों के धनी राजनीतिक पत्रकारों के बारे में लग सकता है कि वे शासन और नीति-नियामक तंत्र के भीतरख़ाने के व्यक्ति हैं लेकिन हक़ीक़त के धरातल पर देखें तो वे इसके नज़दीक तक नहीं होते। ज़्यादा से ज़्यादा यही कहा जा सकता है कि वे अपनी स्थिति के कारण चीज़ों को तनिक नज़दीक से देख पाते हैं और उच्च पदस्थ मित्रों की मदद से उन्हें औरों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा तेज़ी से सूचनाएँ हासिल हो सकती हैं। मीडिया सरकार का चौथा विभाग होता तो आधिकारिक दस्तावेज़ और राजनीति प्रक्रियाओं के भीतर पत्रकारों की पहुँच कहीं ज़्यादा होती। इसलिए मीडिया सत्ता-प्रतिष्ठान का हिस्सा ज़रूर है लेकिन इसके चौथे पाये के रूप में नहीं, जैसा कि अक्सर जान पड़ता है या बताया जाता है।

एक अतिरंजित धारणा मीडिया को समाज का दर्पण समझने की है। यथार्थ कोई ऐसी चीज़ नहीं जो अपने अवलोकन और प्रतिबिम्बन का इंतज़ार कर रहा हो। और फिर, पत्रकार भी दर्पण या कैमरे की तरह नहीं होते। कैमरा आँख के आगे की चीज़ों की यथातथ्य तस्वीर उतार लेता है, लेकिन पत्रकार नहीं। हर पत्रकार के बोध का दायरा होता है जो उसके अनुभव, पूर्वग्रह, जानकारी, मन पर पड़ी सांस्कृतिक छाप और उसकी अन्य अभिरुचियों से बनता है। मीडिया अगर दर्पण है भी तो सीधा नहीं बल्कि तनिक टेढ़ा, क्योंकि इस दर्पण में दीख रही तस्वीर उसे रचने वाले पत्रकार के विशिष्ट भावबोध, नज़रिये, पूर्वग्रह और उसकी जातिगत या वर्गगत पृष्ठभूमि से बनती है।

एक भ्रामक धारणा पत्रकारिता को फुटकर घटनाओं की फुटकर अभिव्यक्ति मानने की है। इसी धारणा के आलोक में पत्रकारिता को हड़बड़ी में लिखा इतिहास कहा जाता है। इस मान्यता के साथ मुख्य दिक़्क़त यह है कि न्यूज़-रूम को किसी एक घटना को समाचार के रूप में चुनने के क्रम में कई अन्य घटनाओं को छाँटना पड़ता है। समाचारों के चयन की पूरी प्रक्रिया कभी हाँ-कभी न के फेर-फार से भरी रहती है और इस चक्कर में दैनंदिन कवरेज़ से बहुत सारी घटनाएँ बाहर रह जाती

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 338

हैं। आपके हाथ में अख़बार होता है तो आप वही देखते हैं जो पन्ने पर छपा है, वह सब नहीं जो चीज़ों को छापने के क्रम में पन्ने पर दर्ज होने से रह गया है। इसलिए, इतिहास का जो टुकड़ा मीडिया प्रस्तुत करता है बहुधा उसमें समाज के हाशिये के लोगों, कमज़ोर तबक़े या ग़रीब के बारे में बातें नहीं होती। ठीक इसी तरह, अख़बारों की कवरेज़ में समृद्ध-सम्पन्न, सम्पर्कों के धनी, शासन में उच्च पदस्थ या फिर व्यवसाय जगत के लोगों के बारे में ज़्यादा बातें होती हैं। मीडिया प्रस्तुत इतिहास के टुकड़े में सेक्सी (आशय सनसनीख़ेज़ और मोहक होने से है), चटख़ारेदार और बेहतर पैरोकारी वाले समाचारों के होने की सम्भावना नतीजाख़ेज़ समाचारों की तुलना में कहीं ज़्यादा होती है। कॉरपोरेटीकरण के साथ, अब मीडिया प्रस्तुत इतिहास के टुकड़े में सिर्फ़ मनमोहनी हिस्सा नज़र आता है और आने वाले समय में इसके और ज़्यादा विकृत होने की आशंका है।

निष्कर्ष : राजनीति का मीडियाकरण बनाम राजनीति और मीडिया का लोकतंत्रीकरण

समाचारों के अर्थभावन के लिए सिर्फ़ यही देखना ज़रूरी नहीं है कि मीडिया किन चीज़ों को प्रस्तुत कर रहा है, बल्कि यह जानना भी ज़रूरी है कि मीडिया में चीज़ों की प्रस्तुति कैसे और किन दबावों के भीतर होती है। इसका एक तरीक़ा मीडिया के कार्य-स्थानिक आचार-व्यवहार को उसके ब्योरों में समझना हो सकता है। यह बहुत कुछ वैसा ही है मानो किसी नागरिक की राजनीतिक भागीदारी के तरीक़े को समझना। न्यूज़-रूम में यथार्थ शब्दों-चित्रों-ध्वनियों के जोड़-जमा से परत दर परत गढ़ा जाता है। रिपोर्टर जो देखता है, वह सिर्फ़ उतना-भर ही नहीं लिखता। उसे अपनी कथा की इमारत प्रत्यक्षदर्शी के बयान, पुलिस और अस्पताल की तरफ़ से कही जा रही बातों, संदर्भ और विशेषज्ञों की राय के आधार पर खड़ी करनी होती है। फिर सम्पादकीय डेस्क होती है, जहाँ घटनाओं का तिथिक्रम, अपराध के आँकड़े, रेखांकन आदि जोड़े जाते हैं। टीवी के लिए रिपोर्टिंग की गयी हो तो न्यूज़-रूम उसमें अपनी तरफ़ से फ़ाइल फुटेज़ जोड़ देता है। बहुत सम्भव है कि ये सारी बातें रिपोर्टर द्वारा प्रस्तुत की गयी कथा में न हों। समाचार पढ़ने के लिहाज़ से बेहतर बन पड़े इसके लिए उप-सम्पादक या फिर ख़ुद रिपोर्टर ही अकसर कथा का इंट्रो (मुखड़ा) या निष्कर्ष बदल देता है। यह सब कुछ कथा की गढ़ंत या कह लें निर्माण-पक्ष का हिस्सा है और इसमें ख़ासी पेशेवर दक्षता की ज़रूरत होती है। इस निर्माण-पक्ष की शुरुआत रिपोर्टर से होती है और क्रम उप-सम्पादक, मुख्य उप-सम्पादक, समाचार-सम्पादक, वरिष्ठ सम्पादक से होते हुए और ऊपर तक पहुँचता है।

टेलिविज़नी समाचारों के ज़्यादातर दर्शक समझते हैं कि वे चीज़ों को सीधे होता हुआ देख रहे हैं लेकिन दरअसल उनके आँखों के आगे जो कुछ घटित होता दिखता है, वह एक दूर-दर्शनी दीर्घा के बनावटी और आभासी संसार के भीतर होता है। देखने वाले के पास, इस दूर-दर्शनी दीर्घा के भीतर हो रही चीज़ों में बतौर दर्शक शामिल होने का विकल्प होता है न कि वास्तविक राजनीतिक घटना-संसार में भागीदारी का। दोयम दर्जे के यथार्थ के इस खेल में, दैनंदिन तौर पर थोक भाव से मिथक गढ़े और छवियाँ रची जाती हैं तथा राहें सुझाई जाती हैं। इस क्रम में पैरोकारी के बूते बढ़ाई जा रही राजनीति और वास्तविक राजनीति के बीच का अंतर धुँधला पड़ता है। यह परिघटना राजनीति का मीडियाकरण कहलाती है। अतिरंजित और माध्यमीकृत यथार्थ के खेल का विस्तार राजनीति ही नहीं बल्कि व्यवसाय और स्टॉक मार्केट के क्षेत्र में भी है। शेयर-बाज़ार के छुटभैये निवेशकों को ज़्यादातर शेयर बाज़ार से संबंधित दोयम दर्जे की ही हक़ीक़त हासिल होती है। इनमें से ज़्यादातर को इस बात की पूरी जानकारी नहीं होती कि उनका पैसा किस फ़ैक्ट्री या कम्पनियों के किन उत्पादों में लगा है।

लोकतांत्रिक फ़ैसले लेने के मामले में लोग ज्यों-ज्यों टेलीविज़नीय यानी दोयम दर्जे के यथार्थ पर निर्भर होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों चीज़ों को मनचीता मोड़ देने और उन्हें अतिरंजित करने का उद्योग उछाल मार रहा है। पश्चिमी दुनिया के ज़्यादा विकसित लोकतंत्रों में दोयम दर्जे के यथार्थ का उपभोग कहीं ज़्यादा है और वहाँ ज़्यादातर लोगों का राजनीति से साक्षात्कार उसके एक स्थानापन्न रूपाकार

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 339

में होता है। कहा जाता है कि अमेरिका में हर राजनीतिक प्रक्रिया माध्यमीकृत या मीडियाटाइज़्ड है। भारत में स्थिति इस हद तक नहीं पहुँची है लेकिन हम इस मुक़ाम की ओर बड़ी ख़तरनाक रफ़्तार से आगे बढ़ रहे हैं। शहरी मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा मान बैठा है बात ज़्यादा बिगड़ेगी तो कोई और (मिसाल के लिए मीडिया और स्वयंसेवी संगठन) उनके लिए आवाज़ उठाएगा। ऐसे परिवेश में, मानव-विकास का मुद्दा मध्यवर्गीय जीवन की चिंता के दायरे के आस-पास भी नहीं फटकता। लोग-बाग़ यह बात भी अभी भली-भाँति नहीं समझ पाए हैं कि ग्राहक-केंद्रित मीडिया तब ही मदद के लिए आगे आता है जब मध्यवर्ग के नागरिक अपने मुद्दों को लेकर उठ खड़े होते हैं।

क्या यह कहना युक्तिसंगत होगा कि न्यूज़-रूम सत्ता-प्रतिष्ठान के पक्ष में समर्थन जुटाने के खेल में फँसा है जिसका मतलब होता है कि अभिजन के बीच बनी सहमति की तरफ़दारी करना? अगर इस तर्क को मान लिया जाए तो फिर इस बात की व्याख्या कैसे होगी कि मीडिया लोकतंत्र के विस्तार में जीवंत भूमिका निभाता है? जो बहुलतावाद के हामी हैं उनका विश्वास है कि जन-समुदाय हमेशा हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठा रह सकता और एक लोकतांत्रिक सार्वजनिक जीवन के भीतर सकर्मक नागरिक-समुदाय का उदय होना ही है। ऐसे सार्वजनिक जीवन की रचना में एक जीवंत मीडिया प्रेरक की भूमिका निभाएगा। एक तर्क यह भी है कि प्रतिस्पर्धी हितों की मौजूदगी सार्वजनिक जीवन को मजबूत करती है और इस क्रम में सार्वजनिक जीवन भी प्रतिस्पर्धी हितों को बढ़ावा देता है। इससे मीडिया कहीं ज़्यादा जीवंत होते हुए निष्क्रियता के विरुद्ध एक औज़ार की तरह काम करता है। यहाँ मिसाल के लिए जन-आंदोलनों और नागरिक-संगठनों की पैरोकारी के बूते सूचना के अधिकार क़ानून के निर्माण में मिली सफलता या फिर सोशल ऑडिट और खाद्य-सुरक्षा के मुद्दे पर चल रही बहस को गिनाया जा सकता है।

जहाँ तक रोज़मर्रा की ख़बरों पर बाज़ार और इसके प्रचार-तंत्र के प्रभाव की बात है, तो इस असर की काट के लिए न्यूज़-रूम को अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं की ओर देखना होगा। इस असर को बाज़ार की पहरेदारी की संस्थाओं की मौजूदगी, नियामक संस्थाओं और नागरिक हित-समूहों की सक्रियता से कम किया जा सकता है। मिसाल के लिए, पेड-न्यूज़ या प्राइवेट ट्रीटी का चलन एकदम ही असम्भव हो जाएगा, बशर्ते प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड (सेबी), चुनाव-आयोग, राजनीतिक दल, संसद, टैक्स-विभाग के अधिकारी, अदालत आदि मौजूदा संस्थाएँ इस सिलसिले में मुस्तैद रहें। बाज़ार की तरह नागरिक-संगठन भी एक हित-समूह के रूप में मीडिया को प्रभावित करते हैं। वे न्यूज़-रूम के लिए सूचना का नियमित स्रोत तो होते ही हैं, न्यूज़-रूम की पहरेदारी की भूमिका भी निभा सकते हैं। एक मुस्तैद समाज ही मीडिया को इस तरह की नागरिक-नियमित संस्था बनाने का रोडमैप तैयार कर सकता है जो सरकार या कॉरपोरेट ताक़तों के नियंत्रण या नायकत्व से मुक्त हो। हालाँकि यह एक अलग और पेचीदा विषय है मगर नागरिक-विनियमन से न्यूज़-रूम के सांस्कृतिक कामगारों की ताक़त बढ़ेगी।

यहाँ पर न्यूज़-रूम की माँग और वहाँ काम कर रहे सम्पादक-विशेष के निजी नैतिक मानदण्ड के बीच भेद करने की ज़रूरत है। वस्तुनिष्ठता और विश्वसनीयता किसी भी मीडिया संस्थान के जीवन के लिए ज़रूरी है। अच्छे पत्रकार इन तकाज़ों को उठा कर सांस्कृतिक अंतर्वस्तु की माँग और पूर्ति के बीच एक संतुलन बैठाने की जुगत लगाते हैं और इसमें उन्हें कमोबेश सफलता मिलती है। कई पत्रकार नैतिकता और वस्तुनिष्ठता के मुद्दे पर अपने लिए एक कामचलाऊ विचारधारा गढ़ लेते हैं। जिस व्यावसायिक स्थान को न्यूज़-रूम कहा जाता है वहाँ पत्रकारिता के नैतिक मानदण्ड बहुत कुछ वैसे ही होते हैं जैसे लाभ कमाने के उद्देश्य से चलने वाले किसी निजी अस्पताल में काम कर रहे चिकित्सकों के चिकित्सापरक नैतिक मानदण्ड। (डॉक्टर को पहले मरीज़ के बारे में सोचना होता है भले ही अस्पताल के प्रबंधन की अपेक्षा यह हो कि अस्पताल या उसके फ़ायदे के हिस्सेदारों (शेयरधारक) का हित ध्यान में रखते हुए चिकित्सक मरीज़ को महँगे मगर ग़ैरज़रूरी जाँच या परीक्षण के लिए कहें। क्रिश्चियन, फ़ैकलर और रॉटज़ॉल का कहना है कि मीडिया की नैतिकता अनिवार्य रूप

23_vipul_Layout 1 5/1/2014 5:03 PM Page 340

से समाज की नैतिकता से जुड़ी होती है। मीडिया को सर्वाधिक अपवर्जनशील क़रार देने वाले पी. साईनाथ ने प्रणंजय गुहा ठाकुरता को दिये गये एक साक्षात्कार में इस बात को बड़े सारगर्भित ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि : 'अख़बार निकालना एक धंधा है, लेकिन पत्रकारिता नहीं।'

इस तरह देखें तो पेशेवर नैतिकता का विचार न्यूज़-रूम के सम्पादकों को एक सीमा तक स्वायत्तता और पेशेवर स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह मीडिया संगठन को भी कुछ हद तक जवाबदेह बनाता है। एक बहुलतापरक उदारतावादी राजनीति की समग्रता में ऐसा सम्भव है जहाँ एक लोकतांत्रिक सार्वजनिक जीवन के भीतर बहसों की गुंजाइश होती है और परस्पर प्रतिस्पर्धी राजनीति किसी एक को स्थायी तौर पर सत्ताधारी अभिजन बन कर उभरने से रोकते हैं। कई देशों में प्रतिस्पर्धी मीडिया संगठन अपनी नैतिक आचार-संहिता तथा हितों की टकराहट संबंधी मान्यता अपनी वेबसाइट के ज़रिये सार्वजनिक करते हैं। किसी कम्पनी में अगर कोई हिस्सेदारी हो तो ये मीडिया संगठन उसकी भी घोषणा करते हैं। यह सब नागरिक संगठनों की सक्रियता के कारण हुआ है। इसलिए, मीडिया की व्यावसायिक प्रकृति के बावजूद न्यूज़-रूम को ऊर्जावान नागरिक-संगठनों, बहुलतावाद, मजबूत संस्थाओं तथा विकासमान सार्वजनिक जीवन से बहुत कुछ हासिल होना है। ज़ाहिर है इससे मीडिया के समाज के साथ रिश्तों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन तो नहीं होगा मगर उसको पहले से ज़्यादा जिम्मेदार और जवाबदेह बनाने में मदद अवश्य मिलेगी।

अगर इस कोण से देखें तो मीडिया कवरेज़ में थोक के भाव तोड़-मरोड़ का होना समान रूप से लोकतांत्रिक संस्थाओं के सशक्तीकरण और सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता तथा जवाबदेही का मुद्दा है। अगर सहायक स्थितियाँ तैयार की जाएँ तो इससे पत्रकारों को अपना काम बेहतरी से अंजाम देने और बाज़ार की ताक़तों का हस्तक्षेप कम करने में मदद मिलेगी। जैसे बाज़ार निवेशकों के विश्वास के बूते फ़लता-फूलता है वैसे ही मीडिया संस्थान अपने पाठकों-दर्शकों के लिए तैयार किये गये समाचारों की विश्वसनीयता से लाभावित होता है। समाचार के व्यवसाय में विश्वसनीयता ही सब कुछ है और पाठक/दर्शक मीडिया पर जो भरोसा जताते हैं, न्यूज़-रूम उसी भरोसे का आख़िरी संरक्षक है।

संदर्भ

क्लिफ़ॅर्ड जी. क्रिश्चियन, मार्क फ़ैकलर और रॉटजॉल किम बी (1995), *मीडिया ईथिक्स : केसेज़ ऐंड मॉरल रीज़निंग,* लांगमैन पब्लिशर्स, यूएसए.

प्रणंजय गुहा ठाकुरता (2009), *मीडिया ईथिक्स ट्रूथ फ़ेयरनेस ऐंड ऑब्जेक्टिविटी : मेकिंग ऐंड ब्रेकिंग न्यूज़,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रेस कौंसिल की उपसमिति की रपट ( ), *पेड-न्यूज़ : हाऊ करप्शन इन द इण्डियन मीडिया अंडरमाइंस डेमॉक्रैसी.*

फ़िक्की-केपीएमजी रिपोर्ट (2013), http://www.kpmg.com/IN/en/Press%20Release/FICCI-KPMG%20Press%20Release.pdf.

बरानेक एरिक्सन और चान (1991), *रिप्रज़ेंटिंग ऑर्डर : क्राइम, लॉ ऐंड जस्टिस इन न्यूज़ मीडिया,* ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, मिल्टन कींज़.

मिशेल मैतलार्त (1986), 'वुमॅन ऐंद कल्चरल इंडस्ट्रीज़', कॉलिन, करेन, ग्रैंहम, स्कैंल शिलशेंगर और स्पार्क्स (सम्पा.), *मीडिया, कल्चर ऐंड सोसायटी : अ क्रिटिकल रीडर,* सेज, नयी दिल्ली.

युरगन हैबरमास (1964), द *पब्लिक स्फ़ीयर,* ऐन एनसाइक्लोपीडिया आर्टिकल (मूल रूप में फ़ीशर लैक्ज़िकन, स्टॉट ऊंड पोलिटिक, न्यू एडिशन, फ्रैंकफुर्त माम मैन (1964) में प्रकाशित).

रॉबिन जैफ्री (2000 / 2010), *इण्डियाज़ न्यूज़पेपर रिवोल्यूशन : कैपिटलिज़म, पॉलिटिक्स ऐंड द लैंग्वेज़ प्रेस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विनीता कोहली खाण्डेकर (2010), *द इण्डियन मीडिया बिज़नेस रेस्पांस,* सेज बिज़नेस बुक्स, नयी दिल्ली.

विपुल मुद्गल (2011), 'रूरल कवरेज़ इन द हिंदी ऐंड इंग्लिश डेलीज़', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड, अंक 35.